

संस्कृत काव्य-शास्त्र में भाषा-विमर्श आधुनिक कथा-भाषिक आलोचना के विशेष सन्दर्भ में

बीज शब्द :

काव्यशास्त्र, भाषिक आलोचना, रूपवादी साहित्य, व्याकरण।

ISSN 0975 1254 (PRINT)
ISSN 2249-9180 (ONLINE)
www.shodh.net

A Refereed Research Journal
And a complete Periodical dedicated to
Humanities & Social Science Research

शोध संयोजन

आधुनिक कथा विधाओं की समीक्षा हेतु कथा भाषा प्रणाली को स्वकार्यता सर्व स्वीकृत नहीं हो पाती। है जबकि संस्कृत काव्य शास्त्र में इसका अस्तित्व मिलता है। प्रस्तुत शोध पत्र में संस्कृत काव्य शास्त्र में भाषा विमर्श का मूल्य विश्लेषण किया गया है।

डा. सर्वेश कुमार सिंह
अध्यक्ष,
हिंदी विभाग,
डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

आधुनिक कथा-विधाओं-उपन्यास और कहानी की सार्थक समीक्षा हेतु कथा-भाषा एक विश्वसनीय प्रणाली है, किन्तु अभी तक सामान्यतः वह सर्व-स्वीकार्य नहीं है। साहित्यिक आलोचना में जब उसका क्रियान्वयन होता है, तो विरोध के कई स्वर सक्रिय हो उठते हैं। यह कहा जाता है कि कथा या कहें गद्य के कल्पना प्रधान रूपों की वह आलोचना जो भाषा को अपना आधार बनाती है, अभी सैद्धान्तिक आधार पर पुष्ट नहीं है। जबकि भाषिक विश्लेषण का अस्तित्व न केवल हिंदी में अपितु संस्कृत काव्य-शास्त्र में भी मिलता है। प्रस्तुत शोध-पत्र इसी सैद्धान्तिक आधार की तलाश हेतु संस्कृत काव्यशास्त्र में हुए उस भाषा-विमर्श का एक सूक्ष्म विश्लेषण है जो विशेषकर कल्पना प्रधान साहित्य के अर्थ उद्घाटन में उपयोगी है। यह इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि व्यक्तिगत रूप से इस शोधकर्ता को लगता है कि साहित्य के अर्थ को उद्घाटित करने में मदद करने वाली अन्य पद्धतियाँ अपूर्ण तो हैं ही, उनमें अधिकांश दोषपूर्ण हैं। विचारधारा, यथार्थवाद, समाजवादी यथार्थवाद, मार्क्सवाद या फिर पाश्चात्य समीक्षा से प्राप्त ऐसे अन्य दूसरे प्रतिमानों की अंतर्ग्रस्तता हमारे सामने है। इस सन्दर्भ में, हिंदी में, रामस्वरूप चतुर्वेदी का अध्ययन प्राप्त होता है किन्तु वह अपर्याप्त है।¹ आज जरूरत है कि इसकी वैचारिक पीठिका का निर्माण हो क्योंकि कथा-भाषा जैसे प्रतिमान के प्रस्थापन और उसके समावेशन से संभव है कि हम कथा आलोचना का एक विश्वसनीय शास्त्र निर्मित और विकसित कर पायें।

संस्कृत काव्य-शास्त्र को ध्यान से पढ़ने पर वहाँ शब्द और भाषा की सत्ता को अर्थ मीमांसा में सर्वोपरि रखा गया है। अग्रलिखित संस्कृत के प्रसिद्ध सूत्रों को जरा ध्यान से पढ़ें तो यह बात सिद्ध हो जाती है-

शब्दार्थो सहितौ काव्यं --भामह

कान्तासम्मतियोपदेश युजे -मम्मट

वाक्यं रसात्मकं काव्यं -विश्वनाथ

रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यं -जगन्नाथ

भामह ने तो इसी आधार पर काव्य और शास्त्र अर्थ को अलग भी दिया था। महाकवि दंडी ने अपने महान् ग्रन्थ काव्यादर्श में भाषा की महत्ता सूचित करते हुए लिखा है-

इदीधतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।

यदि शब्दाह्वयं ज्योत्तिरासंसारं न दीप्यते॥²

अर्थात् यह सम्पूर्ण भुवन अंधकारपूर्ण हो जाता यदि संसार में शब्द-स्वरूप ज्योति अर्थात् भाषा का प्रकाश न होता।

स्पष्ट ही है कि यह कथन मानव भाषा को लक्ष्य करके ही कहा गया है। पशु-पक्षी भावों को प्रकट करने के लिए जिन ध्वनियों का आश्रय लेते हैं वे उनके भावों का वहन करने के कारण उनके लिए भाषा हो सकती हैं, किन्तु मानव के लिए अस्पष्ट होने के कारण विद्वानों ने उसे अव्यक्त वाक् कहा है जो भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता, क्योंकि अव्यक्त वाक् में शब्द और अर्थ दोनों ही अस्पष्ट बने रहते हैं। मनुष्य भी कभी-कभी अपने भावों को प्रकट करने के लिए अंग-भंगिमा, संचालन, हाथ-पाँव-मुखाकृति आदि के संकेतों का प्रयोग करते हैं परन्तु वह भाषा के रूप में होते हुए भी व्यक्त वाक् नहीं है। मानव भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह व्यक्त वाक् अर्थात् शब्द और अर्थ की स्पष्टता लिए हुए होती है। महाभाष्य के रचयिता पतंजलि के अनुसार व्यक्त वाक् का अर्थ भाषा के वर्णनात्मक होने से ही है।

पर आधुनिक काल में, आलोचना के वृहद् समाजशास्त्रीय फैलाव में, साहित्यिक अर्थानुयन हेतु भाषिक विश्लेषण की महत्ता को कम कर के आँका जाता है। पश्चिमी आलोचक डेविड लाज ने 1969 में इसी चिन्ता में लिखा कि उपन्यासकार का माध्यम भाषा है, एक उपन्यासकार के रूप में वह जो भी करता है वह भाषा में एवं भाषा के द्वारा करता है, किन्तु आलोचना में इसी भाषा के आधार पर साहित्य के अर्थ तक जाने की प्रक्रिया प्रामाणिक नहीं मानी जाती¹³ साहित्यिक आलोचना में जब उसका क्रियान्वयन होता है तो विरोध के कई स्वर सक्रिय हो उठते हैं। कथा या कहें गद्य के कल्पना प्रधान रूपों की वह आलोचना जो भाषा को अपना आधार बनाती है अभी भी महत्वपूर्ण और सैद्धान्तिक आधार पर पुष्ट नहीं मानी जाती जैसा कि इस शोध में आगे हम देखेंगे इस प्रक्रिया में आलोचना के सिद्धांतों और साहित्य की प्रकृति को लेकर कई रोचक और महत्वपूर्ण प्रश्न सम्बद्ध होते हैं।

अंग्रेजी साहित्य जगत में तो इस संबंध में एक तर्कपूर्ण प्रतिरोध का आलोचनात्मक इतिहास और वर्तमान है। विशेषकर डेविड लाज और वेलेक-वारेन ने पश्चिमी समीक्षा में कथा भाषा को 20वीं सदी के सातवें दशक में प्रतिष्ठित कर दिया,¹⁴ लेकिन हमारे यहाँ स्थिति कुँए के मेढ़क जैसी है। आलोचना जगत में अपनी-अपनी भेड़ें और अपने-अपने चारागाह नियत हैं। संस्थानों के शोध जगत में विचारधारा का हल्लाबोल है यहाँ साहित्य पर साहित्य के माध्यम से नहीं वरन् इतिहास, मनोवैज्ञानिक, दर्शन, धर्म, तत्वशास्त्र और दबे हुए कामशास्त्र के माध्यम से शोध होते हैं। इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि पाठक किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और मानसिक शांति के लिए बाजारू साहित्य की शरण में जाता है।

अतः आवश्यकता है साहित्य को साहित्य की कसौटी

पर ही परखने की, न कि अन्य। कहने की बात नहीं कि तब कसौटी के रूप में सर्वप्रथम भाषा ही सामने दिखेगी साहित्य बाद में जरूर कुछ हो पर पहले भाषा रूप ही है। इसकी प्रेरणा हमें संस्कृत काव्य-शास्त्र देता है।

आखिर क्यों साहित्य आलोचना के अन्य प्रतिमानों, कसौटियों को ओझल कर भाषा के माध्यम से साहित्य के अर्थ का उद्घाटन किया जाए। प्रश्न जितना गंभीर है उतना ही उत्तर भी कठिन है। व्यक्तिगत रूप से इस शोधकर्ता को लगता है कि साहित्य के अर्थ को उद्घाटित करने में मदद करने वाली अन्य पद्धतियाँ अपूर्ण तो हैं ही, उनमें अधिकांश दोषपूर्ण हैं। विचारधारा, यथार्थवाद, समाजवादी यथार्थवाद, मार्क्सवाद या फिर पाश्चात्य समीक्षा से प्राप्त ऐसे अन्य दूसरे प्रतिमान प्रारम्भ में आकर्षित करते थे, पर जैसे-जैसे साहित्य की समझ बढ़ी इनके दोष दिखाई पड़ने लगे। केवल साहित्य का समाजशास्त्र ही इस संदर्भ में प्रायः चुनौती देता है। पर वहाँ भी अर्थ-संधान की प्रक्रिया लम्बी और चक्करदार है। साहित्यिक अर्थ की त्वरित प्राप्ति में यह प्रतिमान असहाय है।

संशय नहीं कि हम मायालोक में नहीं वरन् यथार्थ की दुनिया में रहते हैं अतः साहित्य में वायवीयता नहीं, बल्कि यह यथार्थ जगत दिखना चाहिए। लेकिन यथार्थवाद या उससे मिलती-जुलती अन्य पद्धतियाँ मसलन मार्क्सवाद इत्यादि इस यथार्थ को रूढ़ कर देती हैं। इसे एक पूर्वनिर्धारित सांचे में ढाल देती हैं कुछ-कुछ राजनैतिक पद्धति का रूप लेते हुए, अंततः ये साहित्यार्थ का सत्यानाश कर देती हैं। लगभग यही हाल आलोचना की अन्य पद्धतियों का भी है। अक्सर मुझे लगता है कि खासकर आधुनिक कथा-विधाओं के रचनात्मक अर्थ को उद्घाटित करने की कोई सुनिश्चित पद्धति हमारे सामने नहीं है। कथा-आलोचना का एक वैज्ञानिक शास्त्र अभी भी हम विकसित नहीं कर पाए हैं। कई सारे प्रतिमान हैं, पर सर्वमान्य एक भी नहीं। पाश्चात्य आलोचना जगत में तो स्थिति कुछ बेहतर है। लेकिन हमारे यहाँ हिंदी में ही नहीं, अपितु अन्य भारतीय साहित्यालोचन की दुनिया में भी दरिद्रता की स्थिति है। हिन्दी आलोचना बाहर से कुछ प्रभाव ग्रहण करती है और उसे ही अन्य भारतीय साहित्य की आलोचना अपना लेती है।

यह दयनीय स्थिति साहित्य के उस समृद्ध भौगोलिक क्षेत्र की है, जहाँ संभवतः साहित्य का सर्वप्रथम आरम्भ हुआ। विश्व का प्राचीनतम साहित्यिक लेखन ऋग्वेद है। कविता की पहली पंक्ति वाल्मिकी ने लिखी, काव्य और नाट्यालोचना की जहाँ सर्वप्रथम सुव्यवस्थित परंपरा शुरू हुई। संस्कृत भाषा में जहाँ साहित्य की एक अलग दुनिया ही है। परंपरा आखिर कहाँ सूख गई, क्यों सूख गई, काव्यालोचना की एक समृद्ध परंपरा को आज हम व्यवहृत करने में, उसके प्रसार करने में, संकोच क्यों करते

हैं, भारतीय मेधा की कथा का अपना घटना जगत कहाँ लुप्त हो गया, कथा-अर्थ के उद्घाटन हेतु एक अभिनव गुप्त क्यों नहीं सामने आया, ये प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हैं और इन पर गंभीर चिंतन की आवश्यकता है। यहाँ केवल इनका संकेत ही दिया जा सकता है।

प्रयत्न हुआ ही नहीं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। साहित्य 'जनसमूह के हृदय का विकास है' कहकर बालकृष्ण भट्ट एक नींव बनाते दिखाई पड़ते हैं। चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब कहकर आचार्य शुक्ल इस पर एक ईंट और रखते हैं। आगे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह और मैनेजर पाण्डेय तक में यह भगीरथ प्रयत्न हुआ है। पर विशेषकर आजादी के बाद के चिंतक आलोचक अंतर्मुखी कम और बहिर्मुखी ज्यादा हैं। नामवर सिंह विशेषकर कविता के क्षेत्र में सक्रिय होते हैं पर कविता के नए प्रतिमान, विदेशी प्रभाव अधिक मात्र में लेने के कारण मार्गच्युत हो जाती है। कहानी: नई कहानी उनका मौलिक प्रयास है पर अपर्याप्त। आलोचक मैनेजर पाण्डेय की इस संदर्भ में सक्रियता व्यापक स्तर पर है। विशेषतः उपन्यास और सामान्यतः संपूर्ण साहित्य उनकी दृष्टि में है। शब्द और कर्म तथा साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका इस प्रसंग में उल्लेखनीय पुस्तकें हैं। शब्द और कर्म का समन्वित और सार्थक योग 'भूमिका' में प्रतिफलित होता है, जिसका पहला प्रमाण आलोचना का गद्य है। अंतर्ग्रस्त न होकर यह गद्य समझने और समझाने का है। एक तरह से कहें तो आचार्य शुक्ल की बौद्धिक प्रपत्तियाँ और अज्ञेय की संवेदनशीलता इस गद्य में समरस हो गई है। यह वर्तमान आलोचना के गद्य की भूमिका भी है। पर साहित्यार्थ कथार्थ को समझने समझाने के क्रम में यह आलोचना धूमिल सा दृश्य उपस्थित करती है। धूमिल अव्याप्ति के स्तर पर नहीं अपितु अतिव्याप्ति के स्तर पर। लेकिन इसमें संशय नहीं कि ऐसे ही प्रयत्नों से एक सार्थक माडल निकल कर सामने आ सकता है।

तो विभ्रम की यह स्थिति एक चौराहे पर खड़ी कर देती है जहाँ साहित्यार्थ को देखने-दिखाने की कौन सी पद्धति उचित है यह प्रधान प्रश्न है। विभ्रम मन एवं मस्तिष्क को निवारणार्थ मूल में जाने के अतिरिक्त और उपाय नहीं और साहित्य का मूल है भाषा। आखिर भाषा के माध्यम से ही उसके अर्थ का उद्घाटन क्यों न हो। आधुनिक पश्चिमी आलोचना में, संरचनावादी रोमन याकोब्सन यहाँ मार्गदर्शन करते हैं। उनका वक्तव्य है कि वह साहित्य जो भाषा के लाक्षणिक विन्यासक्रमी विशेषता से सम्बद्ध है उसके विश्लेषण हेतु सिद्धांत अभी गठित नहीं हुए यद्यपि वही, भाषिक कार्यप्रणाली जो काव्यभाषा के लिए प्रयोग में लाई जाती है, गद्य भाषा के विश्लेषण हेतु भी प्रयुक्त हो सकती है।⁵

ध्यातव्य है कि साहित्यार्थ के उद्घाटन का यह माडल वे आलोचक चिंतक दे रहे हैं जिन्हें प्रायः रूपवादी (रूसी) और पतनवादी कह दिया जाता है। क्या साहित्य को उसके मूल में ही जाकर अन्वेषित करना गलत है? क्या यह जरूरी है कि बाहर से (साहित्य के) आयातित उन सिद्धांतों को लिया जाय जो स्वयं अविश्वसनीय है? संशय नहीं कि साहित्य से बाहर जाकर साहित्य को समझने की यह प्रवृत्ति साहित्य को कमजोर ही नहीं करती, बल्कि इतिहास में इसने उसे अविश्वसनीय भी बनाया है। अतः इस खतरे के प्रति सचेत रहने की जरूरत है। खैर, इन्हीं रूपवादियों ने सर्वप्रथम साहित्य का उद्घाटन ऐसे साहित्यिक आधार पर किया। कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी इनके आलोचनात्मक माडल सर्वप्रथम निर्मित हुए। आश्चर्य नहीं कि राबर्ट शुल्ज मानते हैं कि रूसी रूपवादियों ने कथा साहित्य का जो काव्यशास्त्र प्रस्तुत किया उससे बेहतर काव्यशास्त्र आज तक सामने नहीं आ सका है। रूपवादियों का यह चिंतन प्रेरणा स्रोत के रूप में लिया जा सकता है। हालांकि अनुकरण के रूप में नहीं।

इन्हीं प्रेरणा-स्रोतों के रूप में एक महान संदर्भ संस्कृत काव्यशास्त्रीय चिंतन का भी है। प्रायः हर सिद्धांत भाषा को आधारभूमि मानकर चलता है। वक्रोक्ति सिद्धांत के मूल में भाषा ही है। ध्वनि सिद्धांत तो मूल में ही भाषिक विवेचन को स्थान देता है। उधर काव्यशास्त्रीय साहित्य-शास्त्रीय चिंतन से इतर वैयाकरणिक चिंतन में भी यही बात है। भर्तृहरि का पूरा चिंतन हमें इस प्रसंग में प्रभावित करता है। उनका यह श्लोक इस प्रसंग में उल्लेखनीय है-

न सोखस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद क्रते।

अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्व - शब्देन भासते ॥⁶

अर्थात् लोक में ऐसा कोई प्रत्यय नहीं होता जो शब्दानुगम के बिना संभव हो, संपूर्ण ज्ञान शब्द से अनुस्यूत सा भासित होता है।

वस्तुतः, भर्तृहरि ने व्याकरण और भाषाविज्ञान दोनों ही क्षेत्र में अभूतपूर्ण योगदान दिए हैं। उनके त्रिपदी टीका एवं वाक्यपदीय में व्यक्त धारणाओं एवं विवेचन को, व्याकरण संबंधी सामान्य धरणा से पृथक करके, महाभाष्य की पृष्ठभूमि पर समझने का प्रयास करना चाहिए। भर्तृहरि के अनुसार यदि वाणी का भाषा रूप या भाषिक रूप न रहे, तो समस्त ज्ञान-विज्ञान ही नहीं, मानव की समस्त चेतन प्रक्रिया तक अर्थहीन हो जाएगी, उनके अनुसार प्रयोक्ता (वक्ता) और ग्रहीता (श्रोता) के बीच अभिप्राय या आदान-प्रदान केवल शब्द के ही माध्यम से होता है। ज्यों ही प्रयोक्ता का बुद्ध्यर्थ बन जाता है, भाषा या शब्द का कार्य पूरा करता है। भाषा विकास के संबंध में उनके प्रमुख दो मत हैं अनित्यवाद एवं नित्यवाद। नित्यवाद के अनुसार भाषा दैवी या देव

प्रदत्त है और उसे जन प्रचलित नए नए प्रयोग के द्वारा व्यतिकीर्ण होता है। अनित्यवाद के अनुसार जनता में प्रचलित होने वाला रूप ही मूल होता है।

भाषा के दो व्यवहृत रूप वे बताते हैं। साधु या व्याकरण सम्मत शब्द वह है जो शिष्ट प्रयोग का विषय हो तथा आगम अर्थात् शास्त्रादि में धर्मादि साधन के लिए व्यवहृत होता हो। आगम का अर्थ परंपरा से अविच्छिन्न उपदेश अर्थात् श्रुतिस्मृति लक्षण ज्ञान हैं धर्म का विधान उन्ही श्रुतियों में किया है। श्रुति को अकर्तृक, अनादि और अविच्छिन्न माना है। लोक भाषा का महत्त्व उनकी इस धारणा में व्यक्त है कि जिस प्रकार श्रुति के अविच्छिन्न होने से उसमें प्रयुक्त शब्द नित्य होते हैं, उसी प्रकार अर्थ को वहन करने एवं जन प्रयोग होने के कारण असाधु या अपभ्रंश शब्द भी अव्यवच्छेय होते हैं। कुलमिलाकर, भाषा सम्बन्धी उनके चिंतन का निचोड़ यह है कि मानव अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम होने के कारण वाक् या शब्द नित्य है, इसकी अर्थभावना से ही जागतिक प्रक्रिया चल पाती है। कहना न होगा कि भर्तृहरि का यह भाषा चिंतन आधुनिक कथा-भाषिक आलोचना का मार्गदर्शन कर सकता है। भाषा सम्बन्धी यह काव्यशास्त्रीय चिंतन आज अनुसन्धान का जरूरी विषय है।

अतः साहित्य और अपने संदर्भ में कथा-साहित्य के विवेचन विश्लेषण हेतु भाषा एक कारगर और विश्वसनीय प्रतिमान बनकर उभरती है। साहित्य यथार्थ से सम्बद्ध है या नहीं यह

उसकी भाषा के माध्यम से अधिक सटीक रूप से जाना जा सकता है। वह प्रगतिशील या पतनशील है, भाषिक विीन में उसका संकेत मिल जाता है। और तो और, जैसा कि आलोचक मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि साहित्य की विचारधरा भी उसकी भाषा में मौजूद होती है।⁷ अतः जरूरी है कि संस्कृत काव्यशास्त्रीय भाषा चिंतन में जो सूत्र उपयोगी हैं उनका प्रयोग कथा-भाषिक आलोचना की पीठिका के रूप में किया जाए।

संदर्भ:-

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी: हिन्दी गद्य: विन्यास और विकास लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996
2. आ.दंडी: काव्यदर्शः, प्रथम परिच्छेद, श्लोक-4 (<http://www.sanskrit.nic.in/DigitalBook/k/kavyadarshdandi.pdf>)
3. Lodge, David: Language of Fiction: Essay in Criticism and Verbal Analysis of English Novel, Routledge & Kegan Paul, London, 1970. (Introduction-ix)
4. Lodge, David (ed.): Modern Criticism and Theory: A Reader, London, Longman, 1991. P-22
5. Jakobson R., Closing Statement: Linguistics and Poetics, in Style in Language (ed. Thomas Sebeok), 1960, P-35
6. भर्तृहरि: वाक्य पदीय (टीकाकार: सूर्यनारायण शुक्ल) चौखम्बा, वाराणसी, 1939. ब्रह्मकांड, 123
7. मैनेजर पाण्डेय: साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989, पृ. 260



पृष्ठ 27 का शेष

7. वही, पृ. 12
8. वही, पृ. 13
9. वही, पृ. 77
10. ओमप्रकाश वाल्मीकि, सलाम, कहानी संग्रह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2004, नई दिल्ली, पृ. 13
11. वही, पृ. 101
12. वही, पृ. 102
13. ओमप्रकाश वाल्मीकि, घुसपैठिये, कहानी संग्रह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2003, नई दिल्ली, पृ. 18
14. वही, पृ. 29
15. वही, पृ. 34
16. जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 8
17. वही, पृ. 11-12
18. डॉ. अंबेडकर संपूर्ण वांग्मय खंड-9, कल्याण विभाग, भारत सरकार, 1995, पृ. 49
19. ओमप्रकाश वाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 16

20. वही, पृ. 25
21. वही, पृ. 16
22. वही, पृ. 25
23. वही, पृ. 50
24. वही, पृ. 147
25. वही, पृ. 116
26. वही, पृ. 51
27. वही, पृ. 34
28. वही, पृ. 34
29. वही, पृ. 36
30. वही, पृ. 50
31. वही, पृ. 52
32. वही, पृ. 80
33. वही, पृ. 102
34. वही, पृ. 102

